REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
VOLUME - 12 | ISSUE - 1 | OCTOBER - 2022

मध्यकालीन धर्मसाधना और इतिहास–चेतना

डॉ. दुर्गावती सिंह
एसो. प्रो.– हिन्दी, आर्य महिला पी. जी. कॉलेज, शाहजहाँपुर।

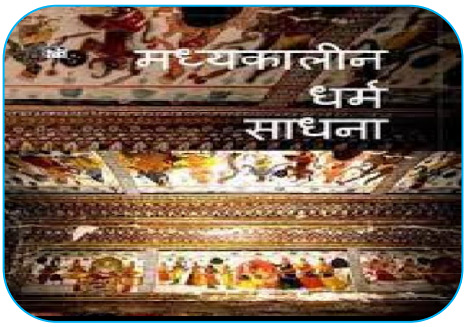

आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित ग्रंथ 'मध्यकालीन धर्मसाधना' में भिन्न–भिन्न अवसरों पर लिखे गए निबंधों को संगृहीत किया गया है। इसमें मध्यकालीन धर्म–साधनाओं का धारावाहिक इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस धारावाहिक इतिहास को प्रामाणिक बनाने के लिए उन्होंने दो प्रकार के साहित्य का उपयोग किया है। प्रथम, विभिन्न सम्प्रदाय के साधना–विषयक् और सिद्धान्त–विषयक् ग्रंथ और द्वितीय, साधारण काव्य–साहित्य। इन विभिन्न ग्रंथों में केवल शास्त्रीय पक्ष ही सामने उभरकर आया है, लोकधर्म अछूता है। इस ग्रंथ के बारे में उन्होंने जो 'निवेदन' किया है, उससे इस ग्रंथ की उपयोगिता पर प्रकाश पड़ता है। उनके मत से '' हमारे देश की धर्म–साधना का इतिहास बहुत विपुल है। विभिन्न युग की सामाजिक स्थितियों से भी इसका संबंध है। भिन्न–भिन्न समयों में आने वाली मानव–मण्डलियों के सम्पर्क से इसमें नये–नये उपादान भी मिलते रहते हैं। धर्म–साधना की चर्चा करते समय इन सब बातों की चर्चा आवश्यक हो जाती है। इस पुस्तक में बहुत थोड़ी बातों की चर्चा हो सकी है। फिर भी प्रयत्न किया गया है कि उत्तर भारत की प्रधान धर्म–साधनाएँ यथासम्भव विवेचित हो जायें और उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि का भी सामान्य परिचय मिल जाय।''[1]इसमें कुल उनतालीस निबंध शामिल हैं।

पहले निबंध में द्विवेदी ने 'मध्ययुग या मध्यकाल' की ऐतिहासिक व्याख्या की है। ऐतिहासिक व्याख्या इतिहास–चेतना की वास्तविकता पर आधारित होती है। प्राचीन काल से भारतीय साहित्य का कृत (सत्), त्रेता, द्वापर और कलियुग नाम के युगों में बाँटा जाता था। फिर कलयुग को आदिकाल, मध्यकाल (मध्ययुग) और आधुनिक काल में विभाजित किया गया। भारतीय भाषाओं के लिए मध्यकाल या मध्ययुग नाम नया ही है। यह शब्द अंग्रेजी के 'मिडिल एजेज' का पर्याय है। फर्क इतना है कि यूरोपीय इतिहास में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से लेकर आधुनिक अभ्युदय के पूर्व तक के समय को मध्ययुग या मध्यकाल कहा जाता है। य समय सन् 476 ई0 से लेकर 1553 ई0 तक का है। हिन्दी साहित्य में यह काल सन् 1347 ई0 से लेकर 1847 ई0 तक माना जाता है। इस काल में भगवान् के दो रूपों की चर्चा ज्यादा हुई है– निर्गुण और सगुण। निर्गुण ब्रह्म की उपासना न तो ग्राह्य है, न तो मन–बुद्धि द्वारा ग्रहणीय है और वाणी द्वारा प्रकाश्य क्योंकि 'रूप–रेखा–गुन–जाति–जुगुत बिन निरालम्ब कित ध्यावे'। पर जब सगुण ब्रह्म भक्तों के लिए सहज होता है, पर सन्तों–सिद्धों योगियों के लिए निर्गुण ब्रह्म ही सहज है। तुलसी ने भी कहा है–

''निगुन ब्रह्म सुलभ अति जानि न पावै कोय।
सगुन अगम नाना चरित, मुनि मन–मन भ्रम होय।।''

मध्ययुग के साधकों ने दो प्रकार के भगवान् की प्राप्ति का उपाय भी सुझाया है। यह उपाय या मार्ग(पथ) है– योग, ज्ञान और भक्ति। इन तीनों की प्राप्ति में प्रेम की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। योग में बिना प्रेम के मन के विकार नहीं हटते। मन के विकार ही चित्त को चंचल बनाते हैं। प्रेम ही चित्त को स्थिर बनाता है एकाग्र भी। ज्ञान और भक्ति का मूलतत्व ही प्रेम है। 'नाम रूप की अपेक्षा रखता है। जिस वस्तु का रूप नहीं

होता, उसका नाम भी नहीं होता'।[2] श्रीकृष्ण या श्रीराम का नाम लेने मात्र से उनका स्वरूप सामने परिलक्षित होने लगता है। मध्ययुगीन साधनों में प्रभु से बड़ा है उसका नाम। इसीलिए नाम–साधना का अपना महत्व है। निर्गुण और सगुण ब्रह्म की उपासना में नामजप को इसीलिए महत्व मिला है। भाव ही रूप को जन्म देता है और रूप ही मानव को। संत और भक्त नाम स्मरण पर बल देते हैं, पर प्रेम के साथ। प्रेम के अभाव में नाम–जप ढकोसला है।

दूसरे निबंध का शीर्षक है 'धर्म–साधना का साहित्य'। यूरोप के इतिहास में जिसे मध्ययुग कहा गया है, उसका आरम्भिक समय भारतीय इतिहास में 'स्वर्णयुग' था। यह समय गुप्त शासकों का था। धर्म और दर्शन के जो ग्रंथ हजार वर्षों के इतिहास को प्रभावित किया है, उनका बीजारोपण भी इसी काल में हुआ था। धर्म–दर्शन से संबंधित अनेक सम्प्रदायों का विकास इसी काल में हुआ था। सच पूछा जाय तो इस युग के भक्तिकाल में भारतीय इतिहास में एक नवीन जोश और उत्साह भर दिया। इसका रूख जन–आन्दोलन का था। यह आन्दोलन जितना सामाजिक था उतना ही सांस्कृतिक। इस आन्दोलन ने पूरे देश में ऐसी इतिहास–चेतना को विकसित किया। जिससे समूचे देश में जातीयता की लहर दौड़ गई। द्विवेदी के शब्दों में ''धर्म–साधना का यह इतिहास–जीवन्त वस्तु है और जब हम किसी प्रवृत्ति को नयी कहते हैं तो हमारा मतलब केवल इतना ही होता है कि यह प्रवृत्ति कुछ विशेष–ऐतिहासिक और सामजिक कारणों से अत्यन्त प्रबल होकर हुई थी।'[3] शंकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ और चैतन्य महाप्रभु ने इस भारतीय धर्म–साधना में जान डाल दी। अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टद्वैतवाद, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद आदि दर्शनों का विकास इसी दौरान हुआ। इसके पूर्व शैव, शाक्त, पाशुपत, गणपत्य और सोर आदि धार्मिक सम्प्रदाय अपने–अपने मतों को प्रतिपादित कर चुके हैं। इसी तरह मध्यकालीन धर्म को दो मोटे विभागों में विभाजित किया जा सकता है– आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक में भी दो श्रेणियाँ हैं, एक, वे जो वेद को प्रमाण मानते हैं और दूसरे वे जो वेद से अपने–अपने मत के समर्थित या असमर्थित होने की परवाह नहीं करते। मनु ने वेदनिन्दक को ही नास्तिक कहा है। कुल्लूक भट्ट ने मनु की टीका (मनुस्मृति की टीका) में नास्तिक शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि परलोक में विश्वास न करने वाले को नास्तिक कहा जाता है।[4]और जो परलोक में विश्वास रखता है उसे आस्तिक कहा जाता है। उन्होंने छह नास्तिक सम्प्रदायों की चर्चा भी की है– चार्वाक् चार बौद्धमत (माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक), और दिगम्बर जैन। इस तरह द्विवेदी ने आस्तिक और नास्तिक धर्म के इतिहास को परिचयात्मक ढंग से प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है।

द्विवेदी ने 'पूर्वमध्ययुग की विविध साधनाएँ' शीर्षक निबंध में पुराण, उपपुराण और स्तोत्रों की चर्चा की है, जो केवल परिचात्मक है। इसके बाद में वे 'तत्रप्रमाण और पंचदेवोपासना' पर विचार करते हैं। आगम ग्रंथों को ही तंत्र कहा जाता है जिनकी तीन श्रेणियाँ हैं– वैष्णव, शैव और शाक्त। व्यवकार में इन तीनों के अधिक प्रचलित नाम हैं– संहिता, आगम और तंत्र। पर सामान्यतः इन तीनों श्रेणियों का नाम आगम और तंत्र है। वैष्णव आगम के दो भेद हैं– पांचरात्र संहिताएँ और वैखानस संहिताएँ। शैवों के भी कई सम्प्रदाय हैं– माहेश्वर, लकुल, भैरव, काश्मीर शैव आदि। शाक्तों के भी नौ आम्नाय और चार सम्प्रदाय हैं– केरल, कश्मीर, गौड़ और विलास।[5] पांचरात्र मत को मानने वाले को 'भागवत' कहा जाता है। 'पांचराय और वैष्णव मत' शीर्षक निबंध में पांचरात्र की चर्चा की गई है। इस ग्रंथ में चार विषयों का प्रतिपादन किा गया है– ज्ञान, योग, क्रिया और चर्चा। अगले निबंध में 'पाशुपत मत की तीन शाखाएँ उस काल में प्रचलित थीं– वैदिक, तांत्रिक और मिश्र। ''तांत्रक पाशुपत लिंग तप्त चिन्ह् और शूल धारण करते थे, वैदिक पाशुपत लिंग, रूद्राक्ष और भस्म धारण करते थे तथा मिश्र पाशुपत समान भाव से पंच देवों की उपासना करते थे।''[6] 'वामनपुराण' में कालामुख और कापाली जाति के पाशुपतों का उल्लेख भी मिलता है (5/105)। पशुपति इनके सभी कार्यों के कारण हैं। दुःखों से निवृत्ति और परमैश्वर्य की प्राप्ति ही इनकी साधना का मुख्य करोकार है। शैवागमों की संख्या अट्ठाईस है और उपागमों की एक सौ सत्तर। इसके बाद के दो निबन्धों में वे 'कापालिक मत', 'जैन मरमी' का सामान्य परिचय देते हैं। इसके बाद का निबंध है– 'धर्मशास्त्र और धर्म–साधना'। प्राचीन काल में स्मृतियों, उसकी टीकाओं, पुराणों और निबंधों से संबंधित जितना ही साहित्य है, उसे 'धर्मशास्त्र' के अन्तर्गत रखा गया है। यही धर्मशास्त्र सामाजिक आचार–विचारों और विधि–निषेधों की व्यवस्था करते हैं। ये ही धर्म–ग्रंथों को आधार बनाकर साधक या भक्त के प्रतिपाल्य नियमों और अनुष्ठानों का विधान भी करते हैं। हरेक हिन्दू जनता, जो वर्णाश्रम व्यवस्था में विश्वास रखती है, देवताओं और उपदेवताओं की पूजा करते हैं। व्रत, उपवास, तीर्थ आदि कर्मों में भी रूचि लेते हैं।

द्विवेदी के मतानुसार, ''स्मृति और पुराण मुख्यतः गृहस्थों के सामाजिक और अन्तर्वैयक्तिक संबंधों और कर्तव्यों के प्रतिपादक शास्त्र हैं, इन्हीं को 'धर्मशास्त्र' कहते हैं।''[7]

मध्ययुगीन धर्म–साधनाओं को मोटे तौर पर दो विभागों में बाँटा जा सकता है– योगमूलक साधनाएँ और भक्तिमूलक साधनाएँ। योगमूलक साधना के अन्तर्गत साधक (योगी) अपने शरीर (काया) को आसन–प्राणायाम के द्वारा संयत करके मन और इन्द्रियों को एकाग्रित करता है और कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर षट् या अष्टचक्रों का भेदन करते हुए परमशिव के स्थान कैलाश पर पहुँचता हैं। यही उसका मूल प्रयोजन होता है। यह परम प्राप्तव्य वस्तु इसी शरीर के भीतर है, बाहर नहीं। बाहर उसका जो रूप रहता है उसे 'शिव' कहते हैं। उसका रूप सगुण होता है। भक्तिमूलक साधना में साधक (भक्त) अपने आप पर क्रम और आराध्य पर अधिक विश्वास करता है। आत्म–समर्पण ही उसकी भक्ति का मूलक है। 'अपने को निःशेष भाव से भगवान् के चरणों में उत्सर्ग कर देने का नाम ही भक्ति है। राजनीति की परिभाषा में समझना चाहे तो योगमार्ग गणतांत्रिक धारणा की उपज है और भक्तिमार्ग साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की उपज है।''[8] शेष निबंधों में इन्हीं दोनों मार्गों का परिचयात्मक विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषण में ऐतिहासिक तथ्यों का भरपूर उपयोग किया गया है। यह द्विवेदी की प्रखर इतिहास–चेतना की ही परिणति है।

संदर्भ–

1. हजारी प्रासाद द्विवेदीः मध्यकालीन धर्म–साधनाः सन् 1970, साहित्य भवन प्रा0लि0 इलाहाबाद, पृ0 5–6
2. वहीः पृ0 11
3. वहीः पृ0 17
4. कुल्लूट भट्टः मनुस्मृति का टीकाः 4/163
5. हजारी प्रसाद द्विवेदीः मध्यकालीन धर्म–साधनाः पृ0 36–37
6. वहीः पृ0 44
7. वहीः पृ0 60
8. वहीः पृ0 60–61